चाँदनी रात और अजगर

upender nath ashaq

उपेन्द्र नाथ अश्क

नीलाभ प्रकाशन गृह
प्रयाग १.
Neelab parkashan,
paray

आवरण तथा अन्य चित्र = श्री सुप्रभात नन्दन

प्रकाशक—
नीलाभ प्रकाशन गृह ५, खुसरो बाग़ रोड, प्रयाग १
मुद्रक—
जॉब प्रिंटर्स, ६६, हिवट रोड, इलाहाबाद

प्रकाश भाभी तथा भाई यशपाल के लिए

सस्नेह

प्रेरणा के स्रोत

मेरे स्नेहियों के मन में कई बार यह जिज्ञासा उठती है कि मैं कविता क्यों करता हूँ ? कुछ तो निसंकोच मेरे मुँह पर यह कह देते हैं कि मुझे कविता का दामन छोड़, अपने समय और श्रम को कहानियाँ अथवा नाटक लिखने में लगाना चाहिए। 'दीप जलेगा' की सफलता के बाद मेरे मित्रों की यह आपत्ति कुछ कम हुई है, उस से पहले तो यह बात निरन्तर मेरे कान में पड़ती थी। कुछ स्नेही तो यह भी सोचते थे कि मैं ऐसा केवल अहम्-वश करता हूँ।

कवि को कहां से प्रेरणा मिलती है और वह क्यों कविता लिखता है ? इस का ठीक ठीक व्योरा देना कठिन है। उस की प्रेरणा में अहम् का तनिक भी हाथ न हो, ऐसी बात नहीं, लेकिन अहम् के अतिरिक्त भी बहुत सी ऐसी बातें होती हैं जो उसे कविता करने को प्रेरित करती हैं। मेरे ऐसा लेखक, जो अपनी अनुभूतियों को दूसरे माध्यम से व्यक्त कर सकता है, जब कविता करता है, तो निश्चय ही केवल अहम्-वश ऐसा नहीं करता।

मैं ने कहीं यह लिखा है कि जब मैं कुछ और नहीं कर पाता तो कविता लिखता हूँ। कौशल्या—मेरी पत्नी—ने एक जगह लिखा कि कविता मैं प्रायः बीमारी में लिखता हूँ, इससे कुछ आलोचकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि बीमारी की विवशता ही मेरी कविता की प्रेरणा है और उन्होंने बिना मेरी कविताओं का अध्ययन किये (हमारे अधिकांश आलोचक बिना लेखक से पुस्तक पाये उसे पढ़ना अपना अपमान समझते हैं) यह घोषणा कर दी कि बीमारी में लिखी जाने वाली कविता कभी स्वस्थ हो नहीं सकती!

बीमारी कविता लिखने के लिए समय अवश्य देती है, पर बीमारी ने मुझे कभी सीधी प्रेरणा नहीं दी। 'दीप जलेगा' भी, जो मैंने अपनी बीमारी में लिखी और स्पष्टतः जिसमें इसके संकेत वर्तमान हैं, केवल मेरी ही कहानी नहीं। उन दिनों बम्बई के निकट ही थाना ज़िले में 'वरली क़िसान आन्दोलन' ज़ोरों पर था और उस आन्दोलन का वृत्तांत मैं नित्य पढ़ता था और मन में आती थी कि मैं वहाँ जाऊँ और उस आन्दोलन पर कुछ लिखूँ। इसी बीच में मैं बीमार हो गया और डाक्टरों ने यक्ष्मा की घोषणा कर दी। कौशल्या को डाक्टरों ने यह बात पहले बता दी। यों तो वह प्रबल इच्छा शक्ति की मालिक है, पर उस सांझ जब वह मुझ से मिलने आई तो उसके स्वर में हलका सा कम्पन और अस्पष्ट सी विह्वलता थी। बातों-बातों में पंचगनी चल कर मेरे कुछ दिन आराम करने की बात भी उसने कही। मैं ताड़ न जाऊँ, इसलिए आँखों के पानी को रोक कर बरबस हँसते हुए उसने यह भी कहा कि वह नरेन्द्र (मेरे छोटे भाई) के साथ पिक्चर देखने जा रही है।

मैं समझ गया। उन्हीं दिनों मैंने एक रूसी नाटक 'डिस्टेंट प्वाइंट' (दूरस्थ विन्दु) पढ़ा था। उसके नायक की संगिनि की परेशानी

बिल्कुल कौशल्या ऐसी थी। तभी उस नायक का दृष्टिकोण और उसकी अन्तर्भूत शक्ति मेरे सामने घूम गई। उसी रात मैं कविता लिखने लगा और जब दूसरी सांझ कौशल्या आई तो मैंने उसका पहला भाग उसे सुनाया।

बीस बाइस दिन तक मैं निरन्तर लिखता रहा। मेरे अनजाने ही उस कविता में मेरी जगह वरली आन्दोलन का घायल, म्रियमाण योद्धा आ गया जो अनायास अपनी संगिनि से कह उठा :

तुम से तो यह आशा है यदि,
कर्म-क्षेत्र के धर्म-क्षेत्र में,
आये भाग्य वीर-गति मेरे,
तो तुम मेरे गिरते कर से
ध्वजा छीन कर,
आँसू पीकर,
ओंठ भींच कर,
कदम बढ़ाती सैन्य पंक्ति के
पग से पग
कंधे से कंधा
सतत मिलाती
बढ़ती जाओ !

और इस प्रकार मृत्यु और बर्बरता के अंधकार की शक्तियों के विरुद्ध लड़ने वालों का संघर्ष मेरे सामने आया और कविता में मुखरित हो उठा। और वे सब विचार जो तिल तिल मिटते, पर सृजन में रत रहने वाले चैखव और गोर्की की जीवनियाँ पढ़ते हुए मन में आये थे

अपने आप कविता का अंग बन गये। बीमारी ने केवल उन सब विचारों को व्यक्त करने का समय दिया।

'चाँदनी रात और अजगर' का अधिकांश भी मैंने बीमारी ही में लिखा है, पर इसकी प्रेरणा में बीमारी का ज़रा भी हाथ नहीं। हुआ यों कि १६४६ में अलमोड़ा से आते हुए मैं लखनऊ उतरा। दो तीन दिन वहाँ भाई यशपाल के यहाँ रहा। उन की पत्नी श्रीमती प्रकाशवती प्रेस को देखती हैं। उन दिनों काम का ज़ोर था, मैं ने देखा—भाभी रात ग्यारह बारह बजे तक प्रेस में व्यस्त रहतीं, काम खत्म कर वहीं पास के कमरे में एक तख्त पर पड़ कर सो जातीं और प्रातः उठ कर, कम्पॉजीटरों के आने से कहीं पहले तैयार हो, मेज़ पर जा बैठतीं।

मैं लखनऊ से चला तो मेरे दिमाग़ में उनके इस संघर्ष की स्मृति अनजाने ही अंकित हो गई। काम तो सदा मेरी पत्नी भी मेरे साथ कराती आई थी, पर निकट होने के कारण मैं उसे देख न पाता था। फिर ऐसा हुआ कि जमा पूँजी खत्म हो जाने से मेरा अपना संघर्ष प्रबलतर हो उठा। नौकरी का अभाव और बीमारी। हम दोनों में से एक दौरा करता और एक दफ़्तर में बैठता। कई बार बारह बारह पन्द्रह पन्द्रह घंटे काम करना पड़ता। इस काम के दौरान में मुझे प्रेस के कम्पॉज़िटरों और मशीन मैनों के जीवन को बड़े निकट से देखने का अवसर मिला। 'गिरती दीवारें' के दूसरे संस्करण के प्रूफ़ तो मैंने कम्पॉज़िटरों के बीच ही बैठकर पढ़े। पता चला कि मशीनमैन 'समद' दिन के आठ घंटे एक प्रेस में मशीन मैनी करता है और पांच के बाद रात के एक बजे तक एक दैनिक समाचार पत्र के प्रेस में

काम करता है। जो दशा 'समद' की थी, वही अधिकांश कम्पॉज़िटरों की थी। उन्हीं दिनों एक प्रेस में छाँटी हुई और कुछ कम्पॉज़िटर बेकारी के कारण अपना काम छोड़, रिक्शा चलाने लगे। खुल्दाबाद के निकट रहने से रिक्शावालों के साथ परिचय हो गया और उनके संघर्ष का भी पता चला। फिर दफ़्तरियों को मैं ने दिन रात काम करते पाया और जाना कि इतना घोर संघर्ष करके भी वे इतना नहीं कमा पाते कि अपना और बीवी बच्चों का पेट भर सकें। तब लगा कि यशपाल का या मेरा संघर्ष उन लाखों करोड़ों इंसानों के संघर्ष के आगे कुछ भी नहीं। ग़रीबी का बौद्धिक-आभास अवश्य था, पर निकट से देखने पर ही उसकी ठीक माहियत का पता चला। मैं ने कुछ रिक्शा वालों और दफ़्तरियों को क्षीन से क्षीण-तर हो कर, यक्ष्मा का ग्रास बनने को तैयार होते पाया और अनायास मन में आई कि उन की इस दुर्दशा को क्यों न व्यक्त कर दूँ! पहले मैं ने कम्पॉजीटरों के जीवन को लेकर एक उपन्यास लिखने की सोची, फिर नाटक का नक्शा बनाता रहा, पर मेरा अपना संघर्ष इतना प्रबल था कि सांस लेने का अवकाश न था और जो नाटक और उपन्यास शुरू कर रखे थे, उन्हें खत्म करना कठिन लग रहा था।

इसी बीच में यह हुआ कि अनजाने ही साहित्य, उस के यथार्थ, उस के शिव और सुन्दर, उस की सामाजिकता और उपादेयता के सम्बंध में मेरा अपना दृष्टिकोण बदलता गया। उलझन होने लगी कि जब हम अपने ड्राइंग रूम सजाते हैं और कविता में कल्पना की उड़ानें भरते हैं तो क्यों नहीं देखते कि हमारा यह प्रयास घूरे की ढेर पर, नाक से इतर की शीशी लगा कर बैठने वाले के विफल प्रयास सा है! इतर बुरा नहीं। अपेक्षणीय है। पर घूरे को हटाने की ओर हमारी दृष्टि क्यों नहीं जाती?......कवि रिक्शा में चढ़ता है, रिक्शा चलाने वाले के पसीने से निचुड़ते, बेरंग कुर्ते की दुर्गन्ध से बचने को नाक पर रूमाल रख लेता है। अपनी नाक को वह बचा लेता है, पर

कड़कती धूप में रिक्शा चलाने को विवश उस इंसान के बच्चे की विवशता उस की वाणी में मुखर नहीं होती...... एक दूसरा कवि (रिक्शा वाले की मुसीबत से दयार्द्र हो कर ही) रिक्शा पर चढ़ना छोड़ देता है, नहीं सोचता कि उस के रिक्शा छोड़ने से रिक्शा वाले की मुसीबत दूर न होगी; अभिजात वर्ग में पला कवि तांगे अथवा कार पर चढ़ सकता है, पर निम्न मध्य वर्ग के संख्यातीत लोग रिक्शा पर चढ़ने और सहस्रों मज़दूर किसान बेकारी के हाथों तग आ कर, रिक्शा चलाने को विवश हैं !...... एक तीसरे कवि की बिल्ली चूहा पकड़ लाती है तो वह रीढ़ की हड्डी तक काँप जाता है, पर अपने इर्द गिर्द बर्बर भेड़ियों सरीखे लोगों को अपने ही ऐसे इंसानों को समूचा निगलते देख कर उस के कान पर जूं भी नहीं रेंगती और वह अपनी कविता में उस दुःख दैन्य, ज़ुल्म और बर्बरता का शायबा तक नहीं आने देता...... और मुझे न केवल अपने प्रिय कवि फीके लगने लगे, बल्कि अपनी अधिकांश कविताएँ विरस दिखाई देने लगीं।

मन-मस्तिष्क की ऐसी ही उलझी हुई स्थिति में एक रात मैं बिस्तर पर बीमार लेटा था। बाहर शारदीया उन्मुक्त अपनी हँसी बखेर रही थी। चाँदनी रातों में प्रायः मुझे जल्दी नींद नहीं आती। पत्नी मेरी पंजाब के दौरे पर गई हुई थी। लेटे लेटे सोचते सोचते, इस कविता के पहले अंश की रूप रेखा बन गई इसे और कुछ पंक्तियाँ ओठों पर आ गईं।

कविता शुरू तो हो गई, पर इसे खत्म होने में तीन साल लग गये। यों तो दिसम्बर १६५० में जब मैं पीलिया से बीमार पड़ा तो मैं ने इसे समाप्त कर दिया था। मेरी पत्नी ने झट काग़ज़ भी खरीद लिया था, पर फ़रवरी १६५० में स्वस्थ हो कर जब मैं पटना गया और मैं ने कविता श्री० जगदीश चन्द्र माथुर को सुनाई तो उन्होंने एक ऐसी फ़ाश ग़लती की ओर ध्यान दिलाया, जिसकी तरफ़ मेरा या मेरे किसी मित्र का ध्यान न गया था। आकर मैं ने फिर अवकाश मिलने पर इसे

लिखा। जब मैं संशोधन परिवर्धन कर इसे प्रेस में देने की सोच रहा था। फिर एक बात हुई जिस के कारण और साल भर के लिए इस की छपाई स्थागित करनी पड़ी।

हुआ यों कि अलमोड़ा से एक युवक मित्र श्री जीवन लाल शाह मुझ से मिलने आये। उन के स्टोर पर हमारी कुछ पुस्तकें जाती थीं। वे साहित्यिक भी हैं, ऐसा मैं ने कभी न सोचा था। उनके पूछने पर जब मैंने बताया कि एक नया खण्ड-काव्य लिखा है जो शीघ्र ही छपने जा रहा है तो उन्होंने उसे सुनने की इच्छा प्रकट की। एक तो कविता लम्बी, दूसरे मैंने (श्री शाह मुझे क्षमा करें) उन्हें उस का पात्र नहीं समझा और टालने लगा, पर जब उन्होंने अनुरोध किया तो मैं सुनाने लगा। सुन कर उन्होंने प्रशंसा की, पर झिझकते झिझकते इस के रूप-गठन की एक आधार-भूत त्रुटि की ओर भी संकेत किया। उस समय तो मैं ने उन की बात पर उतना ध्यान नहीं दिया, पर जब वे चले गये तो मैं ने सारी की सारी कविता को पुनः पढ़ा। तब लगा कि शायद बात उन की सच है। इस के बाद ऐसा हुआ कि अपने जिस मित्र को मैंने कविता सुनाई और पूछा कि उस में वह त्रुटि है या नहीं, उस ने माना कि त्रुटि तो है। काग़ज़ में रुपया फंस गया था, पत्नी झल्लाई भी, पर देख कर तो मक्खी निगली नहीं जा सकती, इस लिए कविता को उठा कर रख दिया। फिर जब मैं शुरू ५२ में बिस्तर का बन्दी बना और मुझे अवकाश मिला तो मैं ने इसे समाप्त कर डाला।

श्री जगदीश चन्द्र माथुर तथा श्री जीवन लाल शाह का मैं आभारी हूँ कि उन्होंने कोरी प्रशंसा नहीं की, बल्कि कविता को अच्छा बनाने के लिए खुले हृदय से परामर्श दिये।

आशा है अपने वर्तमान रूप में पद्य-कथा मेरे पाठकों को रुचेगी और आलोचक इसे उस ध्यान से पढ़ेंगे जिस की यह अधिकारिणी है।

दिसम्बर १९५२ उपेन्द्र नाथ अश्क

अश्क की कविता

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' एक कृती और मेधावी कलाकार हैं। उनके काव्य संग्रह 'दीप जलेगा' की भूमिका में 'बुझते दीप से जलते दीप तक' के क्रमिक विकास का संस्मरणात्मक परिचय देते हुए श्रीमती कौशल्या 'अश्क' ने सूचित किया है कि इस सम्बन्ध में पाठकों तथा आलोचकों के भिन्न-भिन्न मत हैं कि 'अश्क जी मूलतः कवि हैं, कथा लेखक हैं अथवा नाटककार ! कोई उन्हें कथाकार और उपन्यासकार से पहले कवि मानते हैं तो कोई पहले नाटककार और फिर कवि। हमारे आलोचना-साहित्य में यह 'पहले' और 'बाद' की रस्साकशी बहुत दिनों से चलती आई है। मूल प्रश्न यह नहीं है कि लेखक पहले कथाकार है या कवि, बल्कि यह है कि उस ने अपने साहित्य में—उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम कविता हो या उपन्यास या नाटक—अपने समय के जीवन का वैविध्यपूर्ण, मूर्त और यथार्थ कलात्मक-चित्रण कैसा किया है ? उस की

सहानुभूति कितनी व्यापक, मानवीय और सामाजिक है —अर्थात् सत्य के प्रति उस के आग्रह और उस की खोज में कितनी ईमानदारी है ? समाज के समस्त अन्तर्विरोधों को उद्घाटित करते समय उस की सहज सहानुभूति जनता के प्रति कितनी गहरी है ? जीवन के प्रति उस की आस्था कितनी प्रबल और नैतिक है ? कोई रचना यदि इन दृष्टियों से खरी सिद्ध होती है तो उस के रचनाकार को मूलतः कवि ही कहना चाहिए, क्योंकि वस्तुतः ऐसी रचना ही युग का काव्य है——चाहे उस का रूप उपन्यास हो, नाटक हो या रूढ़ अर्थों में कविता हो।

इस दृष्टि से जाँचने पर 'अश्क' के समूचे साहित्य में जो तत्व सब से अधिक उभर कर ऊपर आता है, वह यह है कि उनका दृष्टिकोण और उन की सहानुभूतियाँ क्रमशः अधिक सामाजिक और सत्यनिष्ठ होती गई हैं। उन की कविता, कहानी और नाटक—सभी में यह क्रम-विकास सहज ही खोजा जा सकता है। प्रारम्भ की कविताओं में उन का दृष्टिकोण छायावादी अर्थात् रूमानी था। उस समय वे एक आत्मनिष्ठ प्रेमी की तरह केवल अपने मिलन-विरह के उल्लास और पीड़न को ही व्यक्त करते थे। ऐसी कविताओं के दो संग्रहों 'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्म्मियाँ' की आलोचना करते हुए मैंने सन् ४१ में लिखा था कि "अपनी कहानियों और उपन्यासों की तरह अपनी कविताओं में भी 'अश्क' छायावाद की अस्वस्थता त्याग कर, एक सामाजिक यथार्थवादी दृष्टिकोण की ओर अग्रसर हो रहे हैं, यह हर्ष की बात है। उन की कविताओं में प्रेम को लेकर जिन दो दृष्टिकोणों का संघर्ष दिखाई देता है, वह आधुनिक समाज की देन है और चूँकि इस में स्वस्थ दृष्टिकोण ही विजयी होता दीखता है, इस कारण आशा है कि अगले संग्रहों में वे छायावाद के दायरे से बाहर निकल चुके होंगे।" इसे यदि आप आत्म-प्रशंसा न कहें तो कहूँगा कि यह 'आशा' आज एक 'भविष्यवाणी' सिद्ध हो चुकी है। 'दीप जलेगा'

'बरगद की बेटी', और प्रस्तुत कविता 'चाँदनी रात और अजगर' इसके प्रमाण हैं।

'प्रात-प्रदीप' और 'ऊर्म्मियाँ' के पश्चात् 'अश्क' ने एक प्रकार से रूमानी मिलन और विरह के गीत रचना बन्द ही कर दिया। 'ऊर्म्मियाँ' में एक कविता 'नीम से' है, जिसमें कवि ने अपने उद्दाम यौवन की अनेक करुण और मधुर स्मृतियों के साक्षी 'नीम' को स्नेहांजलि अर्पित की है। इस कविता में जितनी आत्म-विह्वलता और गहरी वेदना है उतना ही वर्ग-समाज के वैषम्य के प्रति सचेतन प्रतिवाद का स्वर भी है। नीम उन तमाम प्रणय-क्रीड़ाओं का साक्षी है, जिन्होंने कवि के हृदय में नयी उमंगें, नयी आशाएँ और नयी जीवनाकांक्षाएँ जगाईं, पर साथ ही नीम उन मनस्तापों, अश्रुधाराओं और हृदय में तूफ़ान बन कर उठने वाले हाहाकारों का भी साक्षी है, जो दो प्रेमियों के मिलन में दुर्गम बाधा बन कर खड़ी, वर्ग समाज की जीवन-भक्षी-नैतिकता के निर्मम दंशन से उस में पैदा हुए। कवि का हृदय जैसे अपने कठोर अनुभवों की शिला से टकरा कर यकायक चीत्कार कर उठा :

लेकिन इस दुनिया में उल्फ़त
तुलती है धन के तोलों में।

पर इस सहज-चीत्कार में छिपा प्रतिवाद का स्वर आगे की कविताओं में सचेतन हो जाता है और 'अश्क' 'उल्फ़त' को भी 'धन के तोलों में' तोलने वाली वर्ग समाज की नैतिकता और उस के वैषम्य को ही और अधिक स्पष्टता से प्रतिबिंबित करने लगते हैं। गीत होने के साथ साथ 'नीम से' कविता में करुण मधुर स्मृतियों का अनुगुंफन, पीड़ाओं और पुलकों भरा आत्म-निवेदन स्वयं में एक भावपूर्ण कहानी बन गया। अगली कविताओं में यह विकास जारी रहा और 'अश्क' पद्य-कहानियाँ लिखने लगे।

रचनाक्रम में 'बरगद की बेटी,' 'दीप जलेगा' से पहले की कृति है। सम्भवतः यह पंजाब के किसी गाँव की किसी लोक-कथा के आधार पर लिखा गया खंड-काव्य है। इस कविता की नायिका लहराँ एक किसान की बेटी है। ज़मींदार का बेटा अनवर उस पर डोरे डालता है और उस सरल-युवती का मन अपनी ओर खींच लेता है। उधर अनवर का नौकर सादिक भी लहराँ पर जान देता है और बिरादरी एवं वर्ग-समानता के आधार पर वह अपने को लहराँ का एकमात्र प्रेम-पात्र बनने का अधिकारी समझता है। किन्तु लहराँ उसके प्रति अनुरक्त नहीं होती। सादिक का मोहपाश उसे अपनी वर्ग-स्थिति से अचेतन रखता है। सादिक का हृदय ईर्ष्या और क्रोध से जलने लगता है और एक दिन साँझ के झुटपुटे में, जब अनवर और लहराँ ऊसर के एकान्त में, बरगद के नीचे, रोज़ की तरह प्रेमालिंगन में आबद्ध थे, वह अनवर के सीने में ख़ंजर भोंक देता है। उसके दूसरे वार में लहराँ भी लहू में लथपथ धरती पर गिर पड़ती है। ईर्ष्या और आक्रोश के उन्माद में सादिक पुलिस के सामने आत्म-सर्म्पण करते हुए अपना अपराध स्वीकार करता है या कहें कि वर्ग नैतिकता को अपने अरमानों के खून का दोषी ठहराता है :

धनी और निर्धन में कैसा
प्यार कहो कैसी उल्फ़त ?
उसका मन बहलावा है औ'
इसकी जाती है इज़्ज़त !

ज़मींदार के इशारे पर पुलिस किसानों को बर्बाद कर देती है और घायल लहराँ ज़मींदार की अटारी में लाई जाती है। सावन की तूफ़ानी बाढ़ सरीखी लहरां की जवानी से ज़मींदार की निरंकुश वासना जग जाती है और वह बलात्कार करने पर उतारू हो जाता है।

पर लहराँ इस अपमान को सहन न कर उसका गला घोंट देती है और स्वयं भाग कर आत्म-हत्या कर लेती है।

इस कथा को 'अश्क' ने ग्राम-जीवन के वातावरण और अन्तर्विरोधों के वैविध्यपूर्ण चित्रण से इतना सम्पूर्ण और चित्रात्मक बना दिया है कि हिन्दी काव्य में आधुनिक ग्राम-जीवन की समस्याओं का इतना सुन्दर समन्वित चित्रांकन शायद ही कहीं हो। यद्यपि यह एक प्रेम-कथा है, पर इसके ताने बाने में ग्राम-जीवन का यथार्थ इतनी सूक्ष्म संवेदनशील कलात्मकता से गुँथा हुआ है कि सामन्तशाही उत्पीड़न और अनाचार का सजीव खाका आँखों के आगे खिंच जाता है।

'दीप जलेगा' में 'बरगद की बेटी' जैसी स्पष्ट कहानी नहीं है। केवल उसकी रचना के पीछे लेखक के जीवन की एक व्यक्तिगत घटना है। उसके संकेत इस कविता में आद्यान्त छिपे हुए हैं, जिनसे यह कविता यथार्थ का ऐसा दीर्घ-उच्छ्वास बन गई है जो तीव्र वेदन और संकल्प भरे स्वर में मनुष्य के जीवन-संघर्ष की कहानी का भी प्रतीक है। पृष्ठभूमि की कथा यह है कि सन् ४६, ४७ में कवि यक्ष्मा से पीड़ित होकर पंचगनी के सेनेटोरियम में मृत्यु से जूझ रहा था, पास में केवल पत्नी कौशल्या और शिशु नीलाभ था। मृत्यु के पाश उसे अपने शिकंजे में जकड़ने के लिए आतुर थे और कवि इस शिकंजे को तोड़ने के लिए! 'अश्क' का यह व्यक्तिगत-संघर्ष अपने प्रतीक-रूप में विराट सामाजिक संघर्ष का ही एक मार्मिक रूपक बन जाता है, जिससे इस कविता को शक्ति, सौन्दर्य और सामयिक-महत्व प्राप्त होता है। 'अश्क' की कल्पना में जीवन के दीपक को बुझाने के लिए घन-अंधकार चारों ओर से तरह-तरह के हिंस्र-रूप धारण कर आगे बढ़ता है, 'अश्क' की अविजित आत्मा उसे चुनौती देती है। कवि अपनी संगिनि से कहता है:

देख रही हो—
दाँत पीस कर,
शक्ति शेष से,
तलछट तक मैं
अन्तर के घट का स्नेहासव
पिला रहा हूँ,
इस दीपक को
अंधकार से जूझ रहा जो।
देख रही हो—
मिट-मिट कर जीने की मेरी प्रबल साध को,
देख रही हो—
प्रतिपल गहरे होते आते तम-अगाध को!

और जीवन के प्रति इस अप्रतिहत, दुर्दमनीय आस्था के बल, वह इसी लाक्षणिक शैली में समाज के उस सारे वैषम्य और संघर्ष की चेतना अपने मन में जगाता है, जिसकी सीमाएँ अतीत और वर्तमान को अपने अंक में समेटे भविष्य तक व्याप्त हैं और जिसमें पड़कर युगों युगों से मनुष्य, जीवन के क्रम, जीवन की रचना-शक्ति, जीवन के सत्य और सौन्दर्य को सुरक्षित रखने के लिए अंधकार की शक्तियों से लड़ता आया है और उस समय तक लड़ता रहेगा जब तक यह उत्पीड़न, यह वैषम्य, यह हिंसा, यह गुलामी, यह युद्ध सदा के लिए समाप्त नहीं हो जाते। जीवन के प्रति यह आस्था कवि को मौन नहीं रहने देती। वह अपने संकल्प को गीतों में भर कर गाना चाहता है ताकि जीवन पर छाये इन तिमिर-घनों को तड़ित की भाँति चीर कर वह कोने कोने में प्रकाश भर दे। आस्था के इस दीपक को कवि एक के बाद दूसरे हाथों में देकर सतत जलाये रखने का संदेश देता है, यह संदेश कवि की अपनी जीवन-

कथा में गुँथ कर इतना मार्मिक बन गया है कि हृदय विदग्ध और आँखें पुरनम हो आती हैं।

अपनी इस नई परम्परा में 'चाँदनी रात और अजगर' 'अश्क' की नवीनतम कृति है। इस पद्य-कथा की टेकनीक 'बरगद की बेटी' और 'दीप जलेगा' दोनों से भिन्न है। 'बरगद की बेटी' में एक सरल छन्द और सीधा साधा कथा-सूत्र है। 'दीप जलेगा' में कहानी पृष्ठभूमि में है और काव्य-प्रतीकों द्वारा लेखक का उद्गार बन कर व्यक्त होती है। छन्द में भी यहाँ भिन्नता आ गई है—कहीं बँधा है तो कहीं मुक्त! किन्तु 'चाँदनी रात और अजगर' की कहानी कवि के गत-जीवन के संस्मरणों, अभावों और भावी जीवन के स्वप्नों द्वारा गूंथी गई है। इस प्रकार इस कविता का रूप-विन्यास और छन्द-प्रयोग अपेक्षतया अधिक संश्लिष्ट और जटिल है। इस कविता की कहानी का आन्तरिक तारतम्य घटनाओं की क्रम सूचना के कारण नहीं, बल्कि भाव-प्रतिक्रियाओं के सहज-संम्बन्धों के कारण है। इसी से यह एक पद्य-कथा बनती है। इसमें इतिवृत्त नहीं, लेखक के भावों, प्रतिक्रियाओं और विचारों के मनके पिरोये हुए हैं, जो उसके गत और वर्तमान जीवन के यथार्थ-अनुभवों और भविष्य की आकांक्षाओं के प्रतिबिम्ब हैं। किन्तु रूप-विन्यास की इस संश्लिष्टता के कारण कविता के प्रवाह में कहीं कमी नहीं आती। छन्द छोटा हो, या बड़ा, मुक्त हो या बँधा, कविता की सरिता पूरे वेग से बहे जाती है।

इस पद्य-कथा की रूपरेखा संक्षेप में यों है। शारदीय पूनो का दिन है। बाहर रजत-ज्योत्स्ना फैली हुई है। कवि अपने घर में वातायन के पास चारपाई पर बैठा यह मनोहर दृश्य देखता है। उसकी जीवन-संगिनि दिन भर के काम काज से थक कर पास में पड़ी सो रही

है। उसकी इस श्रम-श्लथ-अवस्था को देख कर जिसमें शरद पूनो के स्निग्ध रजत वैभव को निरखने का उत्साह तक अवशेष नहीं, कवि स्वयं विचारों के सागर में डूबने उतराने लगता है। कभी वह उनके भाग्य की बात सोचता है, जो साधन सम्पन्न और अवकाश भोगी हैं और इस समय अपनी प्रेयसियों के साथ नौका-विहार कर रहे हैं या पार गंगा के रेतीले चौड़े तट पर एकान्त में प्यार की सरगोशियों में तल्लीन है। कभी उसके मानस-पट पर आप बीते अन्तहीन-जीवन-संघर्ष के करुण चित्र उभर आते हैं तो कभी अपने बचपन के अपने जैसे ही अनेक दूसरे साथियों की जीवन-यातना मन पर रेखांकित हो जाती है। अवकाश भोगियों के चिन्ता रहित आमोद प्रमोद और श्रमकरों के अभावग्रस्त जीवन के चित्र—वास्तव जीवन के ये दो विरोधी रूप चिन्तालीन कवि के मन में एक नैतिक प्रश्न उठाते हैं। इस सामाजिक वैषम्य और शोषण उत्पीड़न के कारण युगों युगों से कितनी अनगिनत प्रतिभाएँ अनुकूल वातावरण और अवसर न पाकर मुरझाती आई हैं ? स्वयं उसने अपने जीवन में देखा है कि ननकू, रहमा, सदना उसके बचपन के साथी, जिनमें क्रम से एक महान गायक, शिल्पी और अध्यापक बनने की जन्मजात-प्रतिभा और बलवती आकांक्षा थी, इस वर्ग-वैषम्य के कारण पनप न सके। उसके अपने महाकवि बनने के सपने, सपने ही रह गये। आखिर यह क्यों है ? यह कैसी नैतिकता है, कैसा न्याय है ? कवि के मन में प्रतिभाओं के इस विराट अपव्यय का भाव एक टीस पैदा करता है और भविष्य के जो सपने, आज संघर्षशील मानवता की कल्पना में पल रहे हैं और मुक्त-जीवन और सुख-समृद्धि की जो आकांक्षाएँ असंख्य मानवों के हृदयों में तरंगति हो रही हैं, कवि भी एक वस्तुनिष्ठ स्वप्नद्रष्टा की तरह उन सपनों में रम जाता है। अपने अनुभव से और मानवता के व्यापक मुक्ति-संघर्ष से उसे यह चेतना प्राप्त हो चुकी है कि शेषनाग सा यह मानव-श्रम का अजगर' अब अपने सर पर समस्त पृथ्वी का भार

उठाये, क्षीर सागर में लक्ष्मीपति की सेज न बना रहेगा, बल्कि कुंडली खोल कर अपने क्रुद्ध श्वास से शोषण और शासन की पूँजीवादी सत्ता को मिटा देगा। उस मुक्त वातावरण में समस्त मानव समाज एक साथ उन्नति-पथ पर अग्रसर होगा। प्रत्येक घर में प्रतिभा के कमल खिलेंगे और केवल यह चाँदनी ही नहीं, बल्कि समस्त धरणी और उसका भौतिक वैभव कृती मानव का उपभोग्य बन जायगा।

इतने विचार-सूत्रों को एक संक्षिप्त भाव-कथा में कलात्मक रूप से जोड़ देना निश्चय ही कवि की एक बड़ी सफलता है। कुछ लोगों का अनुमान है कि छायावाद की कविता के बाद हिन्दी कविता का युग समाप्त हो गया है कि अब कविता में वह पहले जैसी भाव-प्रवणता, हृदय को सहज स्पर्श कर देने वाली रागात्मकता नहीं लाई जा सकती, कि जीवन इतना संश्लिष्ट और समाज के अन्तर्विरोध इतने स्पष्ट हो गये कि हैं अब वह शिशु-सुलभ-विस्मय-भावना, जिज्ञासा और सरल करुणा-वेदना असम्भव है जो छायावादी कविता की मार्मिकता का उपकरण थी, कि या तो कोरी राजनीतिक नारेबाज़ी की तुकबन्दियाँ लिखी जा सकती हैं या फिर विषय-वस्तु का आग्रह छोड़ कर कविता में केवल रूप-गत प्रयोग ही किये जा सकते हैं। कि कविता नहीं लिखी जा सकती— वह कविता, जो सीधे हृदय से निकली हो, जिसमें जीवन के सुख-दुख, हर्ष-विमर्श और पीड़ा-वेदना की कलात्मक अभिव्यक्ति हो। 'चाँदनी रात और अजगर' न तो कोरी राजनीतिक नारेबाज़ी है (यद्यपि पूँजीवादी समाज के वैषम्य और अन्तर्विरोधों का मूर्त-चित्रण इसमें है) और न यह केवल कविता में रूपगत-प्रयोग है (यद्यपि कवि ने विषय-वस्तु की अभिव्यक्ति को मार्मिक और सुन्दर बनाने के लिए 'राशिद', 'फ़ैज़', पंत, महादेवी की शैलियों से प्रभाव ग्रहण करते हुए अपनी छन्द

योजना और शब्द विन्यास में कतिपय नये प्रयोग भी किये हैं।) कुल मिलाकर यह कविता वास्तव में कविता है, जिसकी विषय-वस्तु इतनी यथार्थ और सामयिक है, नैतिक दृष्टिकोण इतना स्पष्ट और जनवादी है और अभिव्यक्ति इतनी चुस्त और मार्मिक है कि सहज ही पाठक के हृदय को झकझोर देती है। दरअसल बहुत दिनों बाद ऐसी कविता पढ़ने को मिली है जिसमें विचारों की सफ़ाई के साथ साथ जीवन का इतना गहरा स्पन्दन हो।

१ मुकंद नगर,
ग़ाजियाबाद। शिवदान सिंह चौहान

चाँदनी रात और अजगर

आज शारदी पूनो—
बाहर फैली है चाँदी की विस्तृत, झीनी चादर !
जिसके आर पार दिखते हैं—
वैजन्ती, दाऊदी, गेंदा औ' इमली के पेड़ तनावर !

लगता है ज्यों,
तरल- रजत का
लेकर लावा,
फूट पड़ा है नभ का भूधर !

नहलाता या रजत हँसी से
धरती के कण कण को जैसे
शशि-मुख अपना खोल, ठहाका मार,
हँस उठा हर्षित अम्बर !

प्राण, चाहता हूँ— जा बैठें
दो चण को अपनी बगिया में !
कटी नहीं मेंहदी की झाड़ी,
छटी नहीं है दूब जहाँ पर !
लुटी हुई सी
बिगनबेलिया ,
मिटी हुई सी
लाजवती-वर !

फूल लुटा कर जहाँ सावनी
फैलाये अब लम्बी बाहें,
जाने क्या पाने को आतुर ?
कैने का बढ़ता सा जंगल
औ' गुलाब के नन्हें पौधे
बढ़े जा रहे झाड़ सरीखे !
सरक रही है चिमटी चिमटी,
निर्धनता की प्रेतात्मा सी,
जहाँ रेल की बेल* निरन्तर !

किन्तु, प्राण, चाँदी की वर्षा
(औ' चाँदी में शक्ति नहीं क्या ?)
गये रूप की राख सँजोये,
साधन-हीन श्रमिक-दुल्हन सी—
नये रूप का वर पा, सहसा,
उजड़ी सी यह अपनी बगिया,
प्राण, उठो तो देखो—लगती
इस पूनो में कितनी सुन्दर !

---

*रेल की बेल = Railway Creeper = इश्क पेचां !

देखो—बाड़ बढ़ी मेंहदी की
माली की कैंची को भूली
डोल रही है—
डोल रही हो जैसे तरुणी
पग बढ़ाती !
चुप है, पर कुछ बोल रही है
दूब, लिये
शबनम के मोती !
खोल रही है
रजनी- गंधा
बंद कोष अपने वैभव का !
और पास के
बड़े बाग से
आ जाता है
भूला भटका,
मौलश्री की
श्री में उलझा,
मधुर वात का
कोई झोंका !

चाह रहा हूं—इसकी सुनलें,
औ' कुछ अपनी इसे सुनायें !
गहन-गुफाओं में विस्मृति की जाकर सोये—
चिर दिन के जो अपने सपने,
उन्हें जगायें !
इस बिखरी निखरी चाँदी में
पास बुलायें !

शिथिल वीण के
तार, शिथिलतर,
क्षण भर कस कर,
स्वर में संगिनि,
नव नव स्वर भर,
दो पल गायें !
जमे हुए हिम को पिघलायें—
बहें बहायें—

भूल भुला कर गत आगत की सुधियाँ सारी ।

वातायन से झाँक रही है किरण चाँद की !

पर तुम तो दिन भर के श्रम से
थक सोई हो।
स्वप्न जगत के
जाने कैसे,
बीहड़-वन में, जा खोई हो।

सपने में उद्यान नहीं है।
मुख पर जो मुस्कान नहीं है।

दाँत तुम्हारे भिंचे-भिंचे से;
धनु मस्तक पर खिंचे खिंचे से;

सुते हुए ओठों पर पपड़ी;
कनपटियों की नील-रगें हैं उभरी उभरी!

कौन समस्या है जिससे तुम लोहा लेतीं?
कैसा निश्चय?
होड़ कौन सी?
ग्रसा हुआ प्रिय, अवचेतन-मन किस उलझन में?
शान्ति नहीं जो निद्रा में भी!

वातायन से झाँक रही है किरण चाँद की!

हाँ ऐसे भी भाग्यवान हैं
इस वेला में
मौज मनाते होंगे जो गंगा के तट पर !

देख रहा हूं—
देश काल की
सुध बुध खोकर,
पूर्ण-रूप से इस ज्योत्स्ना के बंदी होकर,
चाँदी के इस चुप चुप फैले नभ के नीचे,
चाँदी की लहरों के ऊपर,
निकल पड़े हैं दो जन अपनी
अरमानों की तरी सजा कर !

मन्द मन्द सरि बहती जाये !
मन्द मन्द तरि बहती जाये !
ज़रा न बोलें !
चित्रित से उस महा-चित्र में
ज़रा न डोलें !

बँधे हुए प्रिय, एक दूसरे की सुधियों में—
अर्ध-निमीलित मुग्ध-दृष्टि से

निरखें सब

पर ओंठ न खोलें !

चाँदी की चुप
गुप-चुप गुप-चुप,
कहे कहानी,
वही पुरानी,
आदि-काल से जानी हो कर
जो अनजानी !
कूद किनारे से कोई मेंढक छिप जाये।
या कोई मुर्ग़ावी डर कर पंख बढ़ाये।
या कोई चंचल, चमकीली उड़नी मछली
तीर सरीखी
ऊपर आये,
एक नज़र भर,
यह छवि लख कर,
तीर सरीखी
डुबकी खाये।

फिर वह व्यापक चुप
वे दोनों,
बहती चाँदी !

वातायन से झाँक रही है किरण चाँद की !

हाँ ऐसे भी भाग्यवान हैं,
इस वेला में
मौज मनाते होंगे जो गंगा के तट पर !
देख रहा हूँ—
मन्द मन्द बहती गंगा की अविरल धारा।
शरद-हासिनी की द्युति से होकर उद्भासित,
उज्ज्वल, निर्मल स्मिति से रंजित,
तोड़ रही है ग्रीष्म-कलुष की आविल-कारा।
वही नहीं,
हैं रमतीं और कई नौकाएँ !
जसे सपने आसमान में
होड़ लगायें !

कहीं बजाता वंशी कोई;
कहीं गीत का स्वर मस्ताना;
कविता का रस कहीं प्रवाहित;
कहीं सजन के बाहु-पाश में
विस्मृत, अलसित,
रमणी खोई !

त्वरा भूल कर अपनी तेज़ी
लगता चिर-निद्रा में सोई !

एक ओर है धवल कगारा
ऊँचा ऊँचा,
जागरूक ज्यों अपलक प्रहरी।
बिखरी सेकत-शैय्या पर
दो एक टोलियाँ।
मन्द-मन्द औ' सालस, लालस
प्रेम सनी, अरमान भरी, दो एक बोलियाँ।

और दूसरे तट पर छाया
नीम और पीपल की छिदरी,

मौन खड़ी दो एक मोटरें,
डर है किसका ?
फ़िक्र कौन सी ?
जब चाहेंगे,
उठ धायेंगे,
नर्म-गर्म बिस्तर में जाकर सो जायेंगे !
जागेंगे जब धूप जगाने को आयेगी !

वातायन से झांक रही है किरण चाँद की !

हाँ ऐसे भी घर हैं, जिनमें
संध्या की छाया के बढ़ते,
जुट जाते हैं नये-प्रसाधन
नव-शृङ्गार के।
चमक दमक को और बढ़ाने !
औ' कटार को सान चढ़ाने !
बने हुए बालों में कंघी;
वक्र-भवों पर पेंसिल तीखी;

मुख पर झीनी ग़ाज़े[1] की तह;
ओठों पर फिर हल्की सुर्ख़ी;
रेशम के वस्त्रों की झिलमिल;
माथे पर चमकीली टिकुली।
फिर सिनेमा है,
सरिता तट है,
अपनी रातें,
मीठी बातें
मधुर प्यार की !

वातायन से झांक रही है किरण चाँद की !

नहीं याद अवकाश भरे ऐसे दिन मुझको
चिंता से हो मुक्त, कभी तुमने भी संगिनि,
जी भर कर शृङ्गार किया हो !
प्यार किया हो !
चलते चलते सैनिक जैसे चने चबा लें;
दूर देश के राही—मग में

१ ग़ाज़ा = पाउडर

क्षण भर रुक कर,
दो अंजुलि भर,
प्यास बुझा लें;
और मशीनों की छाया में,
मैले काले हाथ—
श्रमिक
धो—
सत्तू गूंध
मिरच ले
दो ठो—
भूख मिटा लें—
प्यारा हमारा!

प्यारा हमारा
बाल कुटारा!
उड़ता उड़ता बैठ डाल पर
दो क्षण गाये!
पाकर फिर नभ से आमंत्रण
पंख बढ़ाये!

प्यार हमारा
व्यस्त क्षणों का
करे अपेक्षा कब फ़ुर्सत की ?

वातायन से झांक रही है किरण चाँद की !

निद्रा में हो लीन, कठिन पर मुख की मुद्रा—
भारी पलकें;
रूखी अलकें;
गाल तुम्हारे पीले पीले;
ओठ तुम्हारे नीले नीले;
आँखों में घन-श्याम गढ़े हैं—
सुर्ख़ी, सुर्मा, ग़ाज़ा जाने कहाँ पड़े हैं !
कब फ़ुर्सत शृङ्गार करो तुम ?
प्यार करो तुम ?

उधर साँझ धीरे धीरे पग धरती आती,
प्यार जगाती,
इधर थके हारे अंगों पर निद्रा छाती !

सो जाती हो,
खो जाती हो,
श्रम के दिन की
ले कर थाती !
और कभी अवकाश मिले
मेरे ढिग आओ,
मुस्कानों के फूल खिलाओ,
सदा जूझते मुझ को पाओ !
खुल कर करलें प्यार—
कहाँ प्रिय ऐसी छाती ?

वातायन से झाँक रही है किरण चाँद की !

नहीं विवशता अपनी ही यह,
कोटि कोटि श्रमजीवी निशिदिन,
जुते हुए श्रम के कोल्हू में
सतत चुकाते जीवन का ऋण !

प्राची की पलकों में जगते
उषा काल में कितने विस्मित
सतरंगे उजियाले अलसित ?

घुलते साँझ पड़े हैं कितने
भेद भरे रंगीन धुँधलके
पश्चिम के ओठों पर सस्मित ?

कितने दिन अपनी मनमोहक
घड़ियाँ लेकर, हाट सजाते ?
रातों को तारे अनजाने
टिम-टिम कर, क्या भेद बताते ?

ऋतुएँ कर देती हैं कितने
लता, पेड़ औ' पौधे विकसित ?
कुसुमित फूलों पर हो जाते
अलि-दल कब 'आनन्द तरंगित' ?

राग रंग की इस दुनिया से
रहते हैं अनजान अपरिचित,
कोल्हू के घेरे के मारे,
इस जगती के वासी अगनित !

जिनके हिस्से सतत, अनवरत,
निशिवासर, श्रम पर श्रम करना।
'ओवर-टऽइम' लगाना, नींद गँवाना,
संग यन्त्रों के यन्त्र बने,
बेहिस
औ' बेबस
पिसते जाना।
इस पर भी भर-पेट न पाना।
असमय मरना,
औ' नित भरना,
अपने श्रम के धन से उनका सहज ख़ज़ाना,
जिनके हिस्से शिक्षा, संस्कृति,
सुख-सुविधा, आराम-ऐश के सारे अवसर !

धन का बीज उगाये धन के
बड़े बड़े मोटे कुछ दाने !
निर्धनता को लगें अनगिनत
सूखे, सड़े, रुग्न, 'मरजाने' !

औ' यह क्रम चलता रहता है—
धन का घेरा सहज संकुचित !
निर्धनता सागर सी बढ़ती,
परिमिति में भी रहे अपरिमित !

बाँध रखा है इस सागर को
चतुराई ने बाँध बना कर!
बार बार रेला ले आता,
तोड़ न पाता, इसे उदधि-वर!

औ' रेले में यदि कुछ छींटे
उछल बाँध के ऊपर जाते,
हो जाते हैं सहज वहीं के,
मुड़ कर फिर वे देख न पाते।

इस सागर की दो लहरें हैं—
जागरूक हम सदा सुविकसित!
नहीं बढ़े जाते अंधों से—
अपनी मंज़िल प्राण, सुनिश्चित!

इसी लिए यह श्रम का बंधन हरता नहीं हमारी मस्ती!

वातायन से बढ़ आई है किरण चाँद की!

आजतलक 'श्रम' करता आया
सदा परिश्रम औरों के हित—
ये रौज़े, मीनार, मक़बरे,
राज-भवन रत्नों से मंडित ;

गिरि-शिखरों के दुर्ग— कर रहा
दुर्गम-कौशल जिनका स्तम्भित;
अम्बर की स्पर्धा में उठते
मन्दिर ये 'आलोक-निनादित' ;

ईंट ईंट इन की साक्षी है—
स्वेद-कणों के नद सदियों में
श्रम ने कितने किये प्रवाहित !

किंतु भला सुख क्या मिलता तब?
वह बेगार ज़ुल्म के बल पर !
वे सपने थे उनके सपने,
जिनको श्रम की छाया से डर !

प्राण, आज हम श्रम करते हैं
उस अभिनव-युग को ले आने!
जिसमें हर श्रमजीवी अपना
बल, अपनी सत्ता पहचाने!

जिसमें करें परिश्रम औ' क्षण
दो सुख-सुविधा के भी पायें!
जिसमें या रोते या सोते
प्राण न ऐसी रात गँवायें!

जिस के भवनों की मिट्टी में
गंध मिले अपने सपनों की!

वातायन से बढ़ आई है किरण चाँद की!

बढ़ आई है,
चूम रही है गाल तुम्हारे!
रूखे सूखे पर लगते हैं,
इस ज्योत्सना में कितने प्यारे!

चूम रही है बढ़ कर मस्तक—
स्वाभिमान में जो नित उन्नत !
चूम रही है नयन-कटोरे—
सुप्त, प्रसुप्त कमल हों जैसे !

लुप्त हुए सब श्याम गढ़े हैं,
सुन्दरता के नीड़ बने हैं !
चूम रही है ओठ गुलाबी,
भाग गई नीलाहट जिन की !

औ' जिन पर स्मिति मन-हर बिखरी !

देख रही हो सुन्दर सपना शायद कोई !

वातायन से बढ़ आई है किरण चाँद की !

वह सपना जो मेरा सपना,
हम दोनों का साझा सपना,
कोटि कोटि शोषित जन-गण के
मन का सपना—
इसी चन्द्रिका सा मीठा है;

दुग्ध धवल है;
मिल की चिमनी,
श्रम के छप्पर,
ऊँच-नीच जिसको समतल है !

जिसके कारण,
कोल्हू सा यह चक्कर क्षण क्षण,
सूखी रोटी,
मोटे कपड़े
औ' अवकाश-रहित यह जीवन,
हमें सरल है !
अंधकार उज्ज्वल निर्मल है !!

स्वप्न सुखद यह साथ कहाँ से
ले आई है शरद-जुन्हाई ?

वातायन से बढ़ आई है किरण चाँद की !

धीरे धीरे बढ़ आई है,
छाया है कैसा उजियाला?
ज्योति उषा की वेला सी है
अर्ध-रात्रि आलोक निराला!

उभर रहे हैं कोने-अँतरे,
दृष्टि देखती तम के अन्दर!
सचमुच हैं खुलते से जाते,
अनायास सुख सपनों के पर!
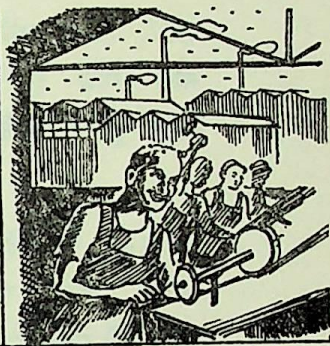
देख रहा हूँ भागी जग से
भूख-ग़रीबी की अँधियारी।
और बहुलता की छुटकी है,
चारों ओर चाँदनी प्यारी।

वह अभाव जो काल-देव सा
हमें लील जाने को तत्पर,
भाग गया है दुबका दुबका
पिटे हुए पिल्ले सा सत्वर!

गये प्राण वे दिन, जब सिर पर
बेकारी की खड्ग लटकती।
औ' ऊबड़-खाबड़ राहों में
जीवन-शक्ति अजान भटकती।

चार घड़ी को ऊँचे टीले
सूरज का आलोक निराला।
औ' फिर गहन-गर्त्त था जिनका
तिमिर अमावस का सा काला।

कभी नौकरी, रोटी, कपड़े
और कभी फ़ाकों पर फ़ाके।
दिन दिन करना खोज काम की
रातों सो रहना ग़म खा के।

जीवन-यापन की आवश्यक
चीजें नहीं रहीं दुर्लभ अब।
बच्चों का पालन पोषण भी
प्राप्य हो गया सब को सम्भव।

देख रहा हूँ—युग युग पर फिर
माँ ने माँ का गौरव पाया।
फूलों से शिशुओं ने हर घर
सचमुच है गुलज़ार बनाया।

शिशु-गृह खुले नगर, गाँवों में
साथ मिलों औ' खलिहानों के।
बच्चों के लालन-पालन से
चिंता-रहित श्रमिक खानों के।

गली गली में खुले मदरसे
अंधकार की टूटी कारा।
शिक्षा जा पहुँची गाँवों में
धनी-वर्ग का मिटा इजारा।
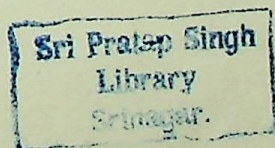
निज श्रम के धन से अब श्रम-कर
घर के काम चला सकते हैं।
बच्चों पर निर्भर रहने के
बदले उन्हें पढ़ा सकते हैं।

देख रहा हूँ—मनोयोग से
निर्धन बच्चे पढ़ते हिल-मिल।
गंदे जौहड़ के कीड़ों से
कल तक थे जो करते किलबिल।

क्या जाने इनमें से किस की।
प्रतिभा छूले नभ के दामन?
रण को या साहित्य-गगन को
निज प्रकाश से कर दे रौशन?

क्या जाने इनमें से कोई
बने बड़ा दर्शन का वेत्ता?
और कौन विज्ञानोदधि में
रहे बुद्धि की नौका खेता?

कौन प्रकृति के भेद खोल कर
मानव की मुट्ठी में भींचे ?
कौन सितारे तोड़ डाल दे
जन जन के पैरों के नीचे ?

किसकी प्रतिभा चंचल हो कर
छनका दे रस डूबे पायल ?
और कौन मृदु-स्वर से कर दे
सुगम थके हारों की मंज़िल ?

कौन सफल-अभिनय से अपने
भेद खोल दे मानव-मन के ?
निज कौशल से प्रश्न गँठीले
प्रस्तुत कर दे सम्मुख जन के ?

युगों युगों से सुप्त पड़ी सी
अवसर पाकर जागी प्रतिभा !
भिन्न दिशाओं में उन्नति की
मुक्त-पवन सी भागी प्रतिभा !

गये प्राण वे दिन जब खिलते
व्यर्थ विजन में फूल मनोहर।
जब, अजान, सागर के तल में,
सोते अनुपम मोती सुन्दर!

सामूहिक - चेतना जगी है,
प्रतिभा व्यर्थ नहीं मुरझाती।
ढूँढी जाकर, अवसर पाकर,
जिन के हित में होड़ लगाती!

नया रक्त पा लाल बने, जो
फूल हुए जाते थे पीले!
तज कर सब संकोच खिले हैं
गुल सिमटे, सिकुड़े, शर्मीले!

चले आ रहे हैं सपने यों—
ज्यों रेतीले,
गीले गीले,

डूब रही किरणों से पीले,
तट पर
अविरल,
महा-उदधि के साँध्य-ज्वार में,
धूम मचाते;
फेन उड़ाते;
दूर दूर तक हंस-परों सी
उज्ज्वल, निर्मल,
क्षण-क्षण फेनिल,
दूध धुली दीवार बनाते;
लहरों के रेले पर रेले
उमड़े आते—
मन की अस्थिरता से विह्वल !

चले आ रहे हैं सपने यों—
लिये अंक में विद्युत की बालाएँ चंचल;
संग नाचती बूँदनियों के
बजते छागल,

सावन के घन-नील-गगन में,
उमडे, बढ़े, चले आते ज्यों,
अलबेले, कजरारे, बादल !

चले आ रहे हैं सपने यों—
गिरि-प्रदेश में क्षण क्षण, पल पल,
होड़ किये मोटर की गति से,
दीख पड़ा करते हैं जैसे,
एक दूसरे के पीछे से उभरे आते,
एक दूसरे की स्पर्धा में बढ़ते जाते,
शिखर हिमोज्ज्वल !

देख रहा हूं—निश्चित राहें,
निश्चित अब जीवन का मंज़िल !
खुली जा रही सिकुड़ी बाहें
सहमे से जीवन की प्रतिपल !

पत्थर बन कर नहीं गले में
बँधे दीखते, घड़ियाँ, छिन पल !
सतत बह रहे जीवन-सरि में
मास और वर्षों से उत्पल !

गये प्राण वे दिन जब दुनिया
बनी हुई थी रात पूस की !
और ज़िंदगी अपनी उस में
अध नंगी झोंपड़ी फूस की !

देख रहा हूँ नया सवेरा
निशि की ठिठुरन सहलाता है !
विस्मित झोंपड़ियों के आँगन
नये नूर से नहलाता है !
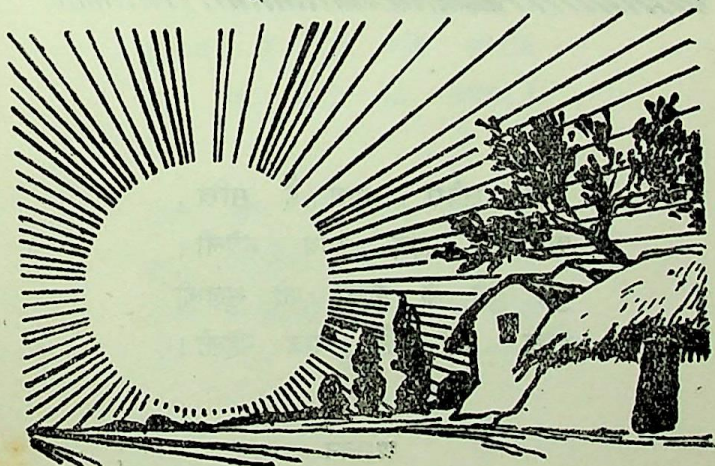
नया सवेरा लाया है सखि,
आशाएँ कुछ साथ नवेली।
युग युग के कष्टों की सुलझी
दीख रही है आज पहेली।

देख रहा हूँ—नहीं कर्म-फल
जिसके कारण हम निर्धन हैं ;
नहीं कर्म-फल जिसके कारण
भूखे, नंगे, अनपढ़ जन हैं ;

नहीं कर्म-फल जिसके कारण
धनाधीश का मूरख बेटा ,
मौज मनाता है जीवन भर
सुख, सम्पद, सुविधा में लेटा ।

औ' मेधावी सुत निर्धन का
निज प्रतिभा का दीप बुझाकर ,
छुटपन से ही गले लगाता
नोन, तेल, रोटी का चक्कर !

प्राण, मन्द ज्यों धार खड्ग की
प्रबल हथौड़ों से हो जाती;
तीक्ष्ण न कितनी भी हो क्यों असि
पड़े पड़े जैसे मुरचाती ;

वैसे ही जन जन की प्रतिभा,
युगों युगों से मन्द पड़ी है!
बेबस कुण्ठा की कारा में,
युगों युगों से बन्द पड़ी है!

सूखे की मारी धरती में,
जैसे बीज कभी उग आते।
किन्तु न पाकर जल के दो कण,
लहरा कर दो क्षण मुरझाते।

ऐसे ही जन जन की भू में,
प्रतिभा के उगते हैं अंकुर!
पाकर कुछ अनुकूल न अपने,
मिट जाते हैं दो दिन खिल कर!

शक्ति-हीन होते होते भी,
यह प्रतिभा खिलती, मुरझाती।
चली आ रही है युग-युग से,
सिमटी, सिकुड़ी औ' सकुचाती।

अपने ही बचपन के मुझको
याद आते हैं कितने साथी।
जीवन में 'कुछ' बन जाते जो
जन्मजात जिनमें प्रतिभा थी।

वह ननकू, वह रहमा, सदना,
साथी वे मेरे बचपन के!
कौन किनारे आज जा लगे,
धारे में बहते जीवन के?

लगे किनारे, क्या जाने ? या
सतत भँवर में चक्कर खाते,
अभी कहीं पर अनजाने में
हैं जीवन का भार चुकाते!

प्रतिभा के वे नन्हें अंकुर,
दो पत्ते भी क्या ला पाये ?
या अभाव के तप्त घाम में,
इससे भी पहले मुरझाये ?

प्राण कभी जब चलते चलते,
सिनेमा घर या किसी दुकाँ पर,
कानों में उड़ कर आता है
'सहगल' के मृदु गाने का स्वर,

सोने का वह स्वर—उस में क्या
जाने है रहता आकर्षण ?
सिमट सिमट आती हैं सुधियाँ,
सिहर सिहर उठता मन-उन्मन !

थम जाते हैं चलते चलते
दो क्षण को ये पैर अचानक !
और तान में उलझा उलझा
सहसा दिल कर उठता धक धक !

याद आती है तब ननकू के
सरस, सुधा से धुले गले की।
ताकत जिसमें—सहज मिटा दे
दो क्षण को जो पीड़ जले की।

उसे कहीं मिल जाता कोई
कला पारखी उसके स्वर का?
जाने सहगल ही सा वह भी
जन के मनस्ताप को हरता!

रहमा—कुम्भकार का बेटा,
छोड़ चाक का सीमित-चक्कर,
ताज सरीखे भवन बनाये—
मन में इस अभिलाषा से भर,

मट्टी ही से कर देता था
नन्हे राज-सदन वे निर्मित,
जिन की कला सहज ही करती
बड़े बड़ों को आश्चर्यान्वित!

औ' सदना को साध—बड़ा हो
बैठे वह भी उस कुर्सी पर,
सदा सुशोभित करते जिसको
थे शाला के अध्यापक-वर !

किन्तु नहीं इन में से कोई
पहुँचा दहरी पार मिडिल की !
जुटे काम में अपने अपने
लेकर इच्छा दिल में दिल की !

उनके माता पिता चाहते—
बेटे उनके संग कमायें !
घर की भूख भरें, शाला में,
व्यर्थ न अपना समय गँवायें !

जोत जोत कर थक जाता तो
ननकू दो पल गाता होगा !
सुधा भरा वह उसका मधु-स्वर,
मीलों तक लहराता होगा !

चाँदनी रात और अजगर

चीर घाम का तपता सीना,
शीतल पवन बहाता होगा!
निठुर दुपहरों की निर्ममता
अनायास पिघलाता होगा!

सुसताते उन खेतिहरों के
क्लान्त हृदय दो क्षण बहला कर,
रख लेता होगा फिर हल की
मुठिया पर वह अपना दृढ़ कर!

वह ननकू जो भारत भर के
कृषकों का मन करता शीतल,
पिसता रहता होगा सीमित
अपने उस घेरे में पल-पल!

और घुमाता होगा रहमा
उसी चाक को देकर चक्कर,
जिस पर रहे जूझते उसके
पिता-पितामह निज जीवन-भर!

निर्माता बनने के उसके
सपने हवा हो चुके होंगे !
नोन, तेल, रोटी के चक्कर
में वे आज खो चुके होंगे !

जाने इस धरती में कितने
छिपे हुए हैं ननकू, रहमे !
उगने से पहले ही जिनकी
प्रतिभा के अंकुर हैं सहमे !

औ' मैं— मेरी भी कुछ उनसे
पृथक नहीं है करुण कहानी,
विपदाओं की चक्की में पिस
मौन हो गयी मेरी वाणी !

वह वाणी, थे छुटपन ही से
जिसने मुझ से गीत लिखाये !
वस्त्र काव्य के तुतलाते से
मेरे भावों को पहनाये !

मिढिल गाँव से किया, पिता के
पास नगर में हम फिर आये,
निम्न-वित्त के युवकों-के-से
अपने भी सपने लहराये—

बनूँ महा-कवि मैं 'ठाकुर' सा
औ' इनाम 'नोबल' का पाऊँ !
जमुना तट पर शान्ति-निकेतन
ही सा मैं फिर नगर बसाऊँ !

माता पिता चाहते— बेटा
करे परिश्रम जान तोड़ कर !
बैठे कम्पीटीशन में औ'
बने कलक्टर और कमिशनर !

परदादा करते पधियाई* ,
दादा ने पटवार सम्हाली !
पिता क्लर्क बने, फिर बढ़कर
अपने ही दफ़्तर के वाली !

*पुरोहिताई

पड़पोता इस परम्परा को
मेधा के बल और बढ़ाये !
यत्न करे दिन रात एक कर
और ज़िला-हाकिम कहलाये !

निम्न-वर्ग के सपने इससे
आगे कम ही बढ़ पाते हैं।
जब उड़ते हैं इसी शिखर को
छू कर वापस आ जाते हैं।

कुर्सी पर पिसते रहने में
एक अनोखा सुख पाते हैं !
सिसक सिसक कर मर जाते हैं
लेकिन श्रम से घबराते हैं।

और शिखर भी हैं जीवन में
नहीं जान पाते हैं इतना।
घर से दफ़्तर, दफ़्तर से घर,
इसमें दौड़ें भागें कितना !

शुतर-मुर्ग़ से मोड़े मुँह वे
नहीं देख पाते हैं दुश्मन !
घुन सा खा जाता है उनको
यह स्फ़ेद-पोशी का अवगुण !

मैं भी शायद इसी लीक पर
अनायास जीवन भर चलता।
यदि न एक दिन जीवन का नद
सहसा अपनी राह बदलता।

और आज वह घटना सहसा
आती है आँखों के आगे।
जिसके कारण सभी सो गये
स्वप्न कि जो रहते थे जागे।

सदा सदा के लिए सो गये
प्राण, सभी सपने बचपन के।
और कदाचित भेद खुल गये
जिसके ही कारण जीवन के।

इस जीवन में इतना है वैषम्य,
प्राण, मैं जान न पाता !
फूलों में रहता मैं औ' रस-
रूप-गंध से मन बहलाता !

कहीं बाग़ के सायों में कुछ
पत्ते गिर कर मुरझाते हैं !
गुल बूटे हैं ऐसे भी जो
धूप न चित्ती भर पाते हैं !

जान न पाता—रुक भी जाता
है जीवन का बहता पानी !
होती नहीं अगर अपनी भी,
कुछ ऐसी ही करुण कहानी !
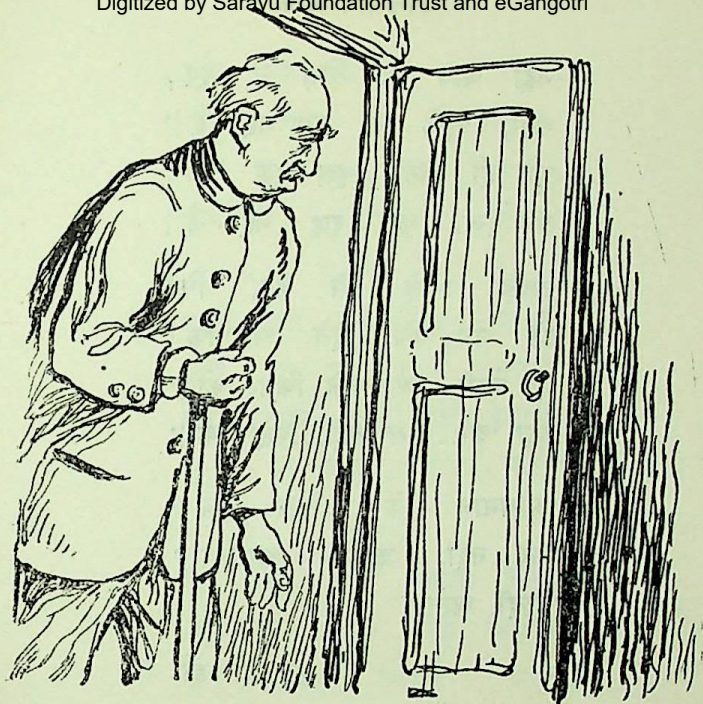
स्मरण आज तक है दफ़्तर से
साँझ पिता घर आये उन्मन ।
प्रकट रहे करते सब बातें ,
नहीं वहाँ था पर उनका मन !

नहीं चाय पी, तोस न छूए,
कहा, 'मुझे कुछ चाह नहीं है!'
चुप हो बैठीं पूछ पूछ मां,
जब देखा कुछ राह नहीं है!

उखड़े उखड़े से बैठे, फिर
उठे और चल दिये अचानक!
माँ बोली, 'अब चले किधर को?'
कहा 'अरे...बस यहीं...वहां तक!'

'आसमान के तेवर देखे?'
'अरे नहीं, जल्दी आऊँगा!'
'जल्दी आना' !

'हाँ हाँ हाँ हाँ'
आ जाऊँगा, आ जाऊँगा!'

शीत काल की थी वह संध्या,
पच्छिम नभ के बिगड़े तेवर!
उमड़ घुमड़ कर उठी घटा थी,
आतंकित था जैसे अम्बर!

तभी पिता जब निकले घर से,
कहीं दूर पर बादल गर्जा!
कहीं निकट ही बिजली कड़की,
भू का सहज कलेजा लर्जा!

फूट पड़ी तब सहसा झंझा,
स्वर से कम्पित दशों दिशाएं!
पत्ते नहीं, उड़ातीं पादप,
उदमाती सी चली हवाएं!

कारा तोड़ क्षितिज की भागे,
चिर दिन के उत्पाती बादल!
खड़ खड़ कर उठे दरवाज़े,
और बज उठी घर घर सांकल!

'कैसे में ये चले गये हैं?'
मां बोलीं खदबद करती सी!
चलीं भेड़ने पट दहरी के,
जी में तरह तरह डरती सी!

सिमटे हम चूल्हे के आगे,
और निकट हो उसको घेरे।
बाहर क्षण क्षण घोर-गहन हो,
शीत-सांझ के बढ़े अँधेरे!

अँगनाई में तभी तड़प कर,
वर्षा के दो पड़े तरेड़े!
फिर बौछारों ने बेचारी
दीवारों के गाल उधेड़े!

लगी मूसलाधार झड़ी तब,
तल पानी औ' ऊपर पानी!
लगा कि पलक झपकते होगा,
बाहर पानी भीतर पानी!

खाना हमें खिला बोलीं मां
'सोओ, रात बड़ी तूफ़ानी'!
'पिता नहीं आये हैं अम्मा'?
'आयेंगे थमते ही पानी'!

यह कह और बढ़ा कर चूल्हा,
बुझा दिये जलते अंगारे!
दबा दिये भूबल में उपले,
ढाँप दिये बर्तन मन मारे!

सांकल लगा रसोई-घर को,
साथ लिये हम सब को उन्मन,
शयन-कक्ष में तब आयीं माँ—
चौंक चौंक सी पड़तीं क्षण क्षण।

दर खड़का, जा कर पट खोले,
किन्तु वही झंझा मदमाती।
पुनः लगा कर सांकल चिंतित,
मां दहरी से वापस आतीं!

बिस्तर कर के हमें सुला कर,
लिये सिलाइयाँ और स्वेटर;
आ बैठीं माँ पास हमारे,
चिंता से गुम-सुम सी आख़िर।

नन्हा भोलेपन में बोला,
'अम्मा कोई नयी कहानी!'
'अच्छा बेटा—दूर देश है,
रहते जिसमें राजा रानी!'

पर राजा रानी की गाथा
क्या थी, यह हम जान न पाये!
बिस्तर की गर्मी से भारी
होकर थके पलक मुँद आये!

आँख खुली तो देखा घर में
एक अजब कोहराम मचा है।
गली मुहल्ले के लोगों से
घर सब अपना अटा पड़ा है !

उधर पड़ा पापा जी का शव,
रक्त-सना, घायल, भू-लुण्ठित !
इधर काठ मारी सी अम्मा,
दुख-प्रहार से जड़, मर्माहत

तब जाना — सर पर थी जिसकी
छाया, छत उड़ गयी अचानक !
हैं आँधी, ओले जीवन भर,
वर्षा की बौछार भयानक !

अपने दफ़्तर में पापा जी
थे 'छोटे साहब' कहलाते।
निज श्रम औ' मेधा के बल पर
सभी ओर से आदर पाते।

कॉलेज ही से सदा रहे थे
उनकी इस निष्ठा के चर्चे।
जितनी हुईं परीक्षाएँ वे
उनमें सर्व-प्रथम आये थे।

सदा दयानत, मेहनत, हिम्मत
से करते वे काम कठिन थे।
सौंप दिये जाते थे उनको
मसले जितने जटिल, गहन थे।

'बड़े साब' अंग्रेज़ सदा उस
दफ़्तर के होते आये थे।
योग्य न कितने भी हों 'छोटे
साहब' पापा कहलाये थे।

'होता अपना राज्य तो पापा
जगह बड़े साहब की जाते।'
एक अजब सुख इस चर्चा में
दफ़्तर के कुछ बाबू पाते।

शायद उनकी सुनी गयी औ'
देश हुआ आज़ाद हमारा।
गोरे साहब का दफ़्तर से
एक दिवस उठ गया पिटारा।

और बड़े दफ़्तर से आया
चपड़ासी परवाना लेकर—
'हरि कुमार पंडित कुछ दिन को
स्थानापन्न बनेंगे अफ़सर!

जब तक हो न नियुक्ति किसी की
रहे प्रबन्ध यही अस्थाई।'
पर दफ़्तर के सब लोगों से
पापा जी को मिली बधाई।

उनका अनुभव, काल-ज्येष्ठता,
मेधा, कौशल और कहाँ था?
साहब बड़े बनेंगे वे ही,
सब को यह विश्वास वहाँ था!

तीन वर्ष हो गये, पिता जी
काम रहे करते उस पद पर!
भूल गये—इक दिन वे भी थे
उस दफ़्तर के छोटे अफ़सर!

तभी उन्होंने देखा—पत्रों
में था उस पद का विज्ञापन!
'कन्फ़र्मेशन हो मेरी ही,'
यह तत्काल दिया आवेदन!

तब उनके ऊपर के अफ़सर
बोले, यह दे कर आश्वसन,
'है यह ख़ाना-पुरी, नहीं कुछ
इसमें है डरने का कारण!

होगा इन्टरव्यू, चुने पर
तुम उसमें निश्चय जाओगे!
तीन वर्ष इस पद पर रहने
का तुम लाभ न क्या पाओगे?'

किंतु एक दिन गाज - सरीखा
दफ़्तर में पहुँचा परवाना—
'हरि कुमार पंडित को वापस
होगा फिर निज पद पर जाना!'

चिर दिन से खाली बैठा था
एक बड़े अफ़सर का साला।
विज्ञ बोर्ड ने चुना उसे ही
उस दफ़्तर का अफ़सर आॅला!

स्तब्ध रह गये कुछ क्षण को यह
पापा जी परवाना पढ़ कर।
औ' फिर जाने उनके उर में,
ज़ोरों से क्या उठा बवंडर?

त्याग-पत्र लिख दिया—'रिवर्शन
यह मुझको स्वीकार नहीं है।
अब स्वराज्य है, अंग्रेज़ों की
यह ज़ालिम सरकार नहीं है।

योग्य व्यक्ति यों अपमानित हों,
क्या यह अत्याचार नहीं है?
मैं विरोध कर सकता हूँ यदि,
और मुझे अधिकार नहीं है!"

नहीं राय ली, नहीं किसी को
भेद दिया निज त्याग-पत्र का!
दफ़्तर से निकले औ' चुप चुप
लिया रास्ता अपने घर का!
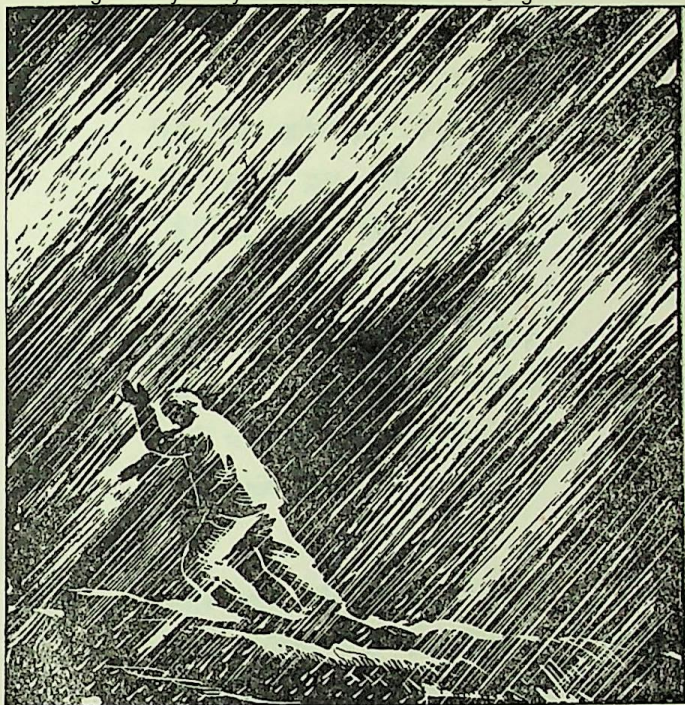
स्मरण आज तक है वह संध्या,
थके पिता घर आये उन्मन।
प्रकट रहे करते सब बातें,
नहीं वहां था पर उनका मन।

नहीं चाय पी, तोस न छूए,
कहा, 'मुझे कुछ चाह नहीं है।'
चुप हो बैठीं पूछ पूछ माँ,
जब देखा—कुछ राह नहीं है।

उखड़े उखड़े से बैठे, फिर
उठे और चल दिये अचानक।
मां बोलीं, 'अब चले किधर को?'
कहा...'अरे बस यहीं, वहां तक!'

शीत-काल की थी वह संध्या
पच्छिम नभ के बिगड़े तेवर!
उमड़ घुमड़ कर उठी घटा थी
आतंकित था जैसे अम्बर!

तभी पिता जब निकले घर से,
कहीं दूर पर बादल गर्जा!
कहीं निकट ही बिजली कड़की,
भू का सहज कलेजा लर्जा!

फूट पड़ी तब सहसा झंझा,
स्वर से कम्पित दशों दिशाएं!
पत्ते नहीं उड़ातीं पादप,
उदमाती सी चलीं हवाएं!

नहीं रुके पापा जी लेकिन,
बढ़े गये उद्भ्रांत, अनवरत।
आँधी उनके मन-मस्तक में
मची हुई अक्लांत, अनवरत!

कौंध रहा था उनके मन में,
उस परवाने का हर अक्षर!
और धधक उठता था क्षण क्षण,
एक प्रबल ज्वाला से अंतर!

त्याग-पत्र दे दिया, किन्तु अब
और कौन से दफ़्तर जायें?
भ्रष्टाचार, स्वजन-पालन का
कोढ़ जहाँ पर तनिक न पायें!

जहाँ दयानत औ' मेहनत का
होता यों अपमान नहीं हो?
किसी बड़े अफ़सर से नाता,
ही योग्यता-प्रमाण नहीं हो?

तब सोचा तो पाया—इससे
मुक्त कदाचित कोई दफ़्तर!
फैल रहा यह कोढ़ राष्ट्र के
अंग अंग में द्रुत से द्रुत-तर!

कौंध कभी जाता घर का दुख,
बच्चों के मुखड़े कुम्हलाये!
और कभी प्रति-स्पर्धी अपने
समवेदन में हर्ष छिपाये!

देखा नहीं उन्होंने—नभ में
क्रुद्ध मेघ-दल कब घिर आये!
कौंध, कड़क बिजली ने कितने
अम्बर के कोने चमकाये!

तार लगे कब बून्दनियों के
कब सड़कों पर फैला कर्दम ?
और प्रहार प्रबल मारुत के
लगे छेदने नस नस, निर्मम ?

दिशा-भ्रांत चेतना-शून्य से,
वे सड़कों पर घूम रहे थे।
प्रबल थपेड़े बौछारों के
उनके कपड़े तूम रहे थे।

तभी बंद फाटक के आगे
खड़े उन्होंने खुद को पाया।
आती गाड़ी के प्रकाश ने
भीगी रेलों को चमकाया।

चीख़ उठी इंजन की सीटी,
चीख़ा जैसे आँधी का उर!
उठा उसी क्षण एक बगूला,
उनके उर, अन्तर को मथ कर!

उधर चीख़ती आयी गाड़ी
औ' विक्षिप्त इधर वे भागे!
गत-आगत का ज्ञान भूलकर,
कूद गये वे उसके आगे!
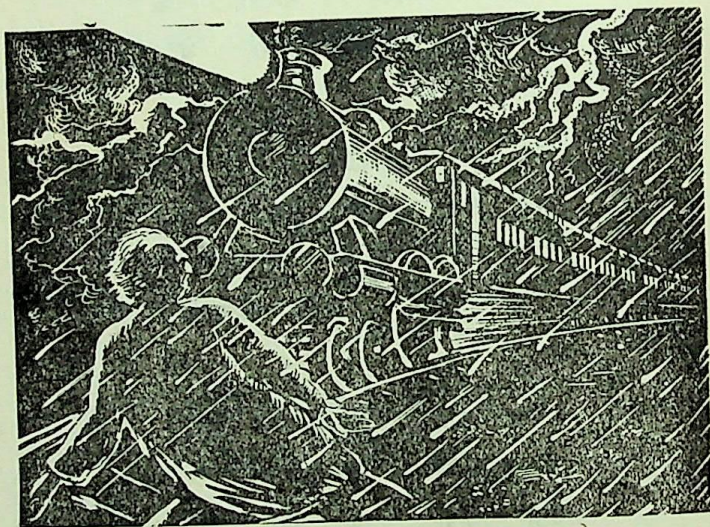
प्राण, कई जगती रातों में
मेरी ये आँखें विस्फारित,
देखा करतीं शरद - रात वह
झंझा - वर्षा - तिमिर - प्रताड़ित ;

वह इंजन की सीटी औ' वे
बत्ती से रेलें आलोकित ;
वह उन्माद और फिर वह शव
रक्त-सना, घायल, भू - लुण्ठित ;

वह कोहराम और वे अम्मा,
दुख - कातर, मर्माहत, पीड़ित !
और बहन भाई मुँह बाये,
कुछ न समझ पाते से, स्तम्भित !

औ' फिर चीखें गूँज पड़ीं जो
घर में और मुहल्ले भर में ;
हूक उठा देते हैं ये सब
आज तलक सखि उर-अंतर में !

जीवन इसके बाद प्राण है—
रात अमा की जैसे काली,
मेघाच्छन्न,
न दिखता जिसमें एक सितारा !
और न मिलता जिसके अँधियारे का प्राण,
कहीं भी कूल किनारा !
या फिर जीर्ण-पुरातन सा घर
कच्चा, जिसकी दीवारें नित
होते जिन पर
हिम-आतप के वार निरन्तर !

एक ओर से करें मरम्मत
ढह जाये जो करके भर भर
कहीं दूसरी जगह प्राण, होकर अति जर्जर !

जीवन इसके बाद प्राण है—
थका हुआ सा ऐसा राही—
तनिक सहारा लेकर साथी मुसाफ़िरों का
चले चार पग तेज़ तेज़ जो
भूख प्यास से बैठ जाय फिर सांस फुलाकर !

माँ घुल घुल कर—
बची हुई पूँजी से हमको
चार क़दम तक और पढ़ा कर,
ब्याह बहन सविता को जिसकी
पापा जी के मरते ही लड़की वालों ने
बात तोड़दी लगी लगाई !
ब्याह बहन सविता को
ऐसी जगह, जहाँ पर
सुख की घड़ियां चार कभी वह देख न पाई !
माँ घुल घुल कर—
उसके दुख से,
अपने दुख से,
बच्चों के, घर की हालत के
और मुरव्वत-हीन ज़माने की निर्ममता
के घन-दुख से,
तिल तिल होकर क्षीण,
लीन होगईं
यक्ष्मा के हाथों,
उस अँधकार में, महाकाल के,
नहीं जहाँ से वापस आता एक बार कोई भी जाकर !

माँ का प्यार
शरद-पूनो सा !
प्यारा प्यारा,
ठंडा ठंडा,
प्रखर-ताप था जिसमें नहीं तनिक सूरज का !
और नहीं था शीत
सन्न कर देने वाला—
चाची ताई और किसी फूफी मौसी के
अनचाहे, अनपेक्ष प्यार का !

माँ का प्यार
शरद-पूनो सा !
जिसकी गोदी में जी चाहें
खुल कर लेटें,
हँसें, शरारत करें,
कुदकड़े मारें,
शोर मचायँ,
प्यार हम फिर भी पायें !

माँ का प्यार
शरद पूनो सा!
धीमी धीमी बास लिये बेला जूही की,
मौलश्री की!
नहीं गंध थी जिसमें तीखी
खट्टे, नीम्बू, या ककरौंदे के फूलों की!

श्वेत श्वेत सा रंग प्राण,
माँ की ममता का।
मन के उमड़े भाव शांत कर देने वाला!

माँ का प्यार
शरद पूनो सा!
छोड़ हमें फिर अँधियारे में,
धीरे धीरे
दूर हो गया।
अनजाने ज्यों चली गई है किरण चाँद की!

अनायास आँखों से आतीं
जीवन की वे उखड़ी घड़ियाँ,
टूटी, बिखरी और उपेक्षित
किसी हार की जैसे लड़ियाँ

जिसे उठा कर फेंक दिया हो
किसी मानिनी ने धरती पर
उसकी इकरंगी से जैसे
अनायास मन में उकता कर

देख रहा हूँ—तब से मेरा जीवन है उस
लम्बे फैले, रेतीले सहरा सा झुलसा,
जिस पर कभी—कभी जैसे युग बीते—चार घड़ी
बादल छाये थे,
शीतल वात चली थी,
बूँद पड़ीं थीं,
और थिगलियाँ हरी घास की
उग आई थीं !

पर यह तो लगता है—जैसे
बात किसी
दूसरे जन्म की !
देख रहा हूँ—होश सम्हाला है जबसे यह
सहरा सदा झुलसता आया।

हिम-आतप, झंझा, झक्कड़ के
वार अनवरत सहता आया !
रहा देखता सपने, लेकिन
कटु-यथार्थता के शूलों से
संगिनि, सदा उलझता आया !
झुलस गई इसके आतप से
बदली अगर कभी आई भी !

वातायन से चली गई है किरण चाँद की !

बदली—
प्राण तुम्हारा आना हो सकता था,
भरी पुरी औ' लदी फँदी मन भावन सी
बदली का आना !

तुम आतीं,
मैं उत्सुक होता !
तुम्हें निरख अपने को खोता !
हल्का कर लेता मैं भार चला आया था जो
वर्षों से ढोता !
उग पड़ता मेरे इस तपते उर में स्नेह भरा
वह सोता—
मुझे भुला देता जो चाहे
कुछ क्षण, कुछ दिन,
मास, वर्ष को,
कटु-यथार्थता इस जीवन की !

वातायन से चली गई है किरण चाँद की !

किन्तु, तुम्हारा जीवन तो सखि मेरे जैसा
वर्ग-जाति-च्युत जीवन !
नये वर्ग की पीड़ा ममता और
हज़ारों शोले लेकर,
जिसकी हर इक धड़कन
करती थी प्रत्येक साँस से नव-युग का आवाहन !

और तुम्हारा आना मेरे जीवन में था ऐसे, जैसे
सहरा से सहरा मिल जाये !
मिले वात से वात,
तड़ित से तड़ित
और सागर से सागर !

सोच रहा हूँ मैं पर,
लुट जाने, या लूट दूसरे को सुख पाने से बढ़कर है
नहीं प्राण क्या,
इक दूजे की शक्ति बढ़ाना ?
छाने या छाये जाने से भी बढ़ कर है
नहीं प्राण क्या,
दिये हाथ में हाथ,
साथ ही कदम बढ़ाना ?

हम दोनों सहरा हैं संगिनि,
खूब तपे हैं ।
एक दूसरे के जीवन की तप्त हवाओं के मिस
गले मिले औ'
एक हुए हैं !

हम दोनों सागर हैं संगिनि,
अन्तर-ज्वाला से उमड़े हैं!
एक दूसरे के जीवन के ज्वारों के मिस
गले मिले औ'
एक हुए हैं!

हम दोनों झक्कड़-झंझा हैं
जीवन-नभ पर खूब तने हैं!
एक दूसरे के जीवन के झोंकों के मिस
गले मिले औ'
एक हुए हैं!

शक्ति-पुंज, सुख-सिंचित जीवन एक नया लायेगी
अभिनव शक्ति हमारी!

वातायन से चली गई है किरण चाँद की!

चली गई है किरण चाँद की
और अँधेरा पहले सा फिर से छाया है।

पहले सा क्या,
सचमुच यह अँधियारा है सखि,
पहले सा ही ?
लगता है यों
अब भी जैसे
इस अँधियारे के कण कण में,
रसी बसी है
किरण चाँद की !

रसी बसी है
मेरी जाग रही आँखों में,
मस्तक,
मन में,
देख रहा हूँ प्राण, अभी तक मैं वे सपने
गत आगत के,
साथ लिये जो वह आई थी !

वातायन से चली गई है किरण चाँद की !
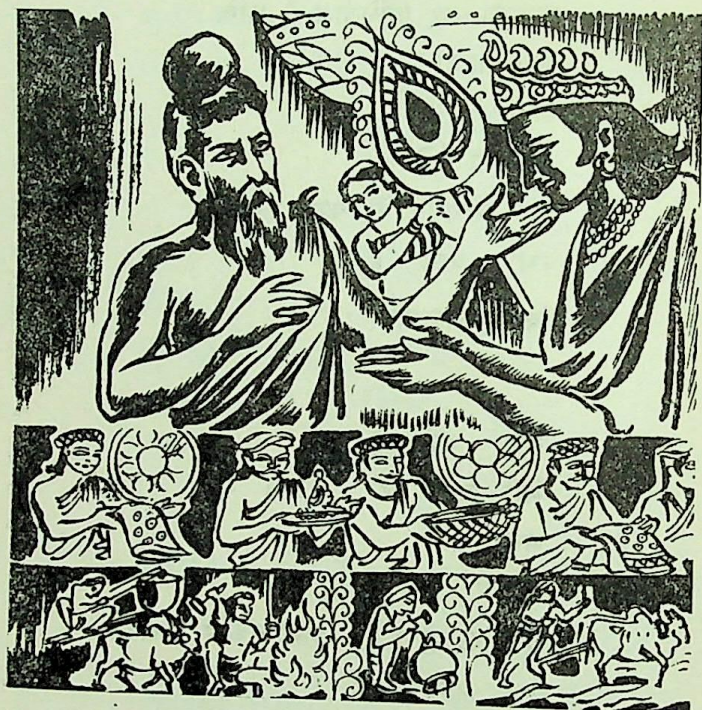
देख रहा हूँ—
एक समय था
प्राण, बनी थी सभी व्यवस्था
ऋषि मुनियों की अभिलाषा को सम्मुख रख कर।

क्षत्री राजा
हर्ष-सहित दे देते अपने
पुत्र,
पुत्रियाँ ,
राज पाट तक ,
ऋषि-मुनियों के तनि इंगित पर !

धर्म-व्यवस्था में सीढ़ी के ऊपर ब्राह्मण ,
फिर क्षत्री ,
फिर वैश्य
और फिर सबके नीचे
श्रम-कर !
पण्य-वस्तु में औ' उसमें था
नहीं प्राण, तब कुछ भी अन्तर !

फिर वह भी युग आया ,
क्षत्री राजाओं ने अपना
क्षेत्र शक्ति का सहज बढ़ाया ।

कल के ऋषि मुनि बने पुरोहित—
राजाओं के मन्त्री, कवि, गुरु, सब कुछ, लेकिन,
उन पर आश्रित !
रही व्यवस्था राजाओं या सामन्तों के सुख को लेकर।
रहे वैश्य तब वैश्य और श्रम-कर वैसे ही श्रम-कर !

राज्य दबे, सम्राट उठे तब
बने वही धरती के औ' जन जन के स्वामी।
शूद्र, वैश्य, क्षत्री, औ' ब्राह्मण
सब उनके अनुगामी।
राज्य करें जगती पर, लेकर सामंतों से भी कर !

साम्राज्य बिखरे, तब फैलीं ज़मींदारियाँ।
ज़मींदार कहलाये राजा या नवाब औ'
दीन मुज़ारे,
दास सरीखे,
रहे पूर्ववत
निशि दिन सेवा-रत औ' तत्पर !

फिर वह भी युग बीता।
औ' युग आया
तेज़ मशीनों का अपनी तेज़ी को लेकर !
मुक्त दास निज श्रम को बेचें
खेतों, खलिहानों औ' अलादीन के राजमहल सी
पलक झपकते बनने वाली
मिलों, कारख़ानों के अन्दर !
मुक्त दास—निज श्रम को बेचें !
पाने को श्रम का फल अपने
नहीं मुक्त पर !
लाभ सभी पूंजी के पति का।
बिना मुकुट जो युग का राजा।
बनती-मिटतीं पूँजी-वादी सरकारें
जिसकी सुविधा पर !
और श्रमिक का भाग्य
वही कुछ मोटे दाने
रहते जिनमें आधे कंकर !

औ' कुछ कपड़े
नानक शाही ईंटों का ज्यों उड़ा पलस्तर !

औ' बच्चे अधनंगे अनपढ़
नाक सुड़कते,
किलबिल करते,
लिये आँख में ढेरों कीचड़ !
कीड़ों से मर जाते
सर्दी, गर्मी हो या मधु-ऋतु, पतझड़ !

प्राण धर्म का नहीं, सबल आधार अर्थ का
मनु-पुत्रों को आज अपेक्षित !

देख रहा हूँ, आज व्यवस्था बदल रही फिर
पलट रहा युग !
सत्ता पाने को अपनी श्रमकर हैं तत्पर !
श्रम करते थे जो सीढ़ी पर सब से नीचे,
उत्सुक हैं भर एक जस्त,
जा पहुँचें ऊपर !

वर्ण-व्यवस्था टूट चुकी है कब से औ' अब
वर्ण मात्र है दो जगती पर !
एक कि जिसके हाथ सभी शोषण के साधन !
सागर को मथ,
पिये अमृत के घूँट,
युगों से लेट रहा जो
क्षीरोदधि की
सुख-शैय्या पर !
लक्ष्मी पैर दबाती जिसके,
शेष नाग करता है छाया,
कोने कोने में जगती के
फैल रही है जिसकी माया।
जिसकी चतुराई ने श्रम के सागर पर वह बाँध बनाया—
जिसे उदधि-वर अब तक पूरी तरह कभी भी
तोड़ न पाया।
इसने किया जगत का शोषण युगों युगों से
औ' पोषण-कर्ता कहलाया।

वर्ग दूसरा उनका जिनमें सब हैं शोषित
और सभी शोषण के साधन !
मथने के रस्से हैं या
भट्टी के ईंधन !

वर्ग तीसरा प्राण कि जिसमें हम तुम जन्मे,
आज नहीं कुछ इसकी सत्ता,
धीरे धीरे मौन-रूप से मिटा जा रहा।
एक आध हम में से बढ़ कर,
राहु सरीखा,
घुस जाता है सुर-घेरे में
शेष फिसल जाते हैं चुप-चुप,
श्रमिकों का बढ़ता जब सागर !

पहला वर्ग समेटे सारा वैभव जग का
सहज संकुचित !
और लिये जग की निर्धनता, वर्ग दूसरा
बना अपरिमित !

एक आख़िरी होने को दोनों में टक्कर !
युग युग से पायेगा खोई सत्ता इसमें
निश्चय श्रम कर !

देख रहा हूँ पलट रहा युग
खोल रहा है कुंडलि श्रम का सोया अजगर !
युगों युगों से इसे जोत कर
दंड काठ के या लोहे के
मथते रहे निरन्तर ऋषि-मुनि, राजा, ज़मींदार औ'
पूँजी के पति
असुरों से सुर
धरती सागर !

क्या क्या नहीं उन्हों ने पाया
औ' यह शेष-नाग — यह अजगर !
बना सेज लक्ष्मीपतियों की
भूखा, हारा, थका, कुंडली मारे लेटा रहा मौन धर !

किन्तु प्राण अब पलट रहा युग
क्षीरोदधि में उठा बवंडर !
कोटि फनों से फूत्कार कर,

खोल रहा है कुंडलि श्रम का सोया अजगर !

नहीं जानता
कौन कौन पिस जाये इसकी गुंजलकों में ?
तज कर निज शैथिल्य,
शेष बल करके संचित,
अलफ़ खड़ा हो ?*
छोड़े जब यह रुद्ध-श्वास को !
कौन कौन मिट जाये लेकर
अपना शासन,
अपना शोषण,
क्रुद्ध-श्वास से इसके भुनकर ?

खोल रहा है कुंडलि श्रम का सोया अजगर !

सेज न यह अब और बनेगा
लक्ष्मी पति की,

---

*अलफ़ खड़ा हो=सीधा खड़ा हो ।

क्षीरोदधि का क्षीर पान कर,
जिस में रह कर भी था अब तक जिससे वंचित,
रुद्ध-मार्ग को तोड़,
फोड़ कर शोषण-कारा,
प्रगति-पंथ पर, नव-उमंग से,
होगा अब यह सतत अग्रसर !

खोल रहा है कुंडलि श्रम का सोया अजगर !

सोच रहा हूँ—
यह असीम बल,
परिमिति-हीन समूह शक्ति का,
शोषण से हो मुक्त,
पुष्ट हो श्रम के फल से,
एक-सूत्र में बँध स्वेच्छा से,
पाकर निज आकार भव्यतर,
जब होगा मथने को तत्पर
वक्ष धरणि का,
अम्बर का उर,
सरिता-सागर,
क्या क्या रत्न न यह लायेगा ?

चौदह रत्न कभी सागर को मथ पाये थे
सुरासुरों ने ।
किन्तु प्राण यह संख्या तो हास्यास्पद सी है
इस अपनी बीसवीं सदी में ।
यह चाहे तो भर सकता है
जगती का भंडार कोटिशः नव रत्नों से !

देख रहा हूँ प्राण,
आज यह उर्वर वसुधा
बूढ़े पूँजी-वादी-युग के
नव-यौवन ने
चाहे इससे
जो भी पाया,
अब निज उर्वरता को भूल
बनी है ऊसर !
बंध्या इस पुंसत्व-हीन संगी की
दिन दिन
उन्मन, आतुर !

देख रही है—
नव आशा से,
उत्सुकता से ,
आने वाले
इस बलशाली
नूतन युग की
छटा मनोहर !

यौवन का यह पुंज नया युग
लेकर नव-ललकार उठा है।
युगों युगों के
रुद्ध-कंठ से
कर अभिनव हुंकार उठा है।
नव-क्षेत्रों में सतत पछाड़ा ,
इसने इस पुंसत्व-हीन बूढ़े दानव को ,
इस लम्पट को,
जो अपनी चतुराई से अब भी चिमटा है ,
वसुधा से जो
युगों युगों से रही सदा वीरों की भोग्या !
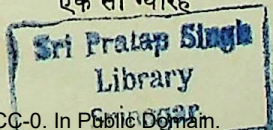
लेकिन भर हुंकार नया युग—
सदियों सोये मौन धनुष की
कर नूतन टंकार नया युग—
निश्चय इसे पृथक कर देगा
धरती के प्रत्येक अंग से,
और चीर कर,
बली भीम ने जरासंध को ज्यों चीरा था,
अनाचार से इसके क्षिति को मुक्त करेगा !

देख रहा हूँ—
नव-आशा, नव-उत्सुकता से
विह्वल वसुधा
पाकर अपना यह नूतन संगी बल शाली,
नव-रत्नों से हर्ष-सहित भरती मानव की
झोली ख़ाली !

वातायन से चली गयी है किरण चाँद की !